



भक्तिकालीन हिन्दी रंगमंच में परंपराशील नाट्य शैलियों का योगदान

दीपा,

शोधार्थी,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

मोबाईल -9643923547,

ईमेल deep.gs2011@gmail.com,

सारांश

भारतीय रंगमंच और नाटक का स्रोत संस्कृत नाट्य परंपरा को ही माना जाता है। भारतेन्दु पूर्व नाटक और रंगमंच के बारे में जानने के लिए संस्कृत नाट्य परंपरा की भव्य परंपरा को जानना आवश्यक है। संस्कृत नाट्य परंपरा में नाटक को दो वर्गों में विभक्त किया गया – नाट्यधर्मी परंपरा और लोकधर्मी परंपरा। नाट्यधर्मी परंपरा, वह नाटक जो शास्त्रीय नाट्य तत्वों पर आधारित है, उनमें कालिदास के नाटक प्रमुख है। लोकधर्मी नाटक जोकि नाट्यधर्मी परंपरा के समानांतर साधारण जनता द्वारा पोषित परंपरा जो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से गुजरती हुई विभिन्न देशी भाषाओं में अनेक लोक पारंपरिक शैलियों के रूप में प्रकट होती हैं। वर्तमान में भी लोकधर्मी पारंपरिक नाट्य शैलियाँ जीवित हैं।

बीज शब्द

लोकधर्मी, नाट्यधर्मी, नौटंकी, स्वांग, ख्याल, रासलीला, रामलीला, लीलानाटक, भाषा नाटक आदि

भूमिका

भारतीय संस्कृति में नाटक प्रदर्शनकारी कला है और यह कला, आदि से अनंत काल तक बनी रहने वाली विधा है। नाट्य कला को किसी समयावधि में सीमित कर पाना कठिन कार्य है। इसके अलावा भारत की प्रदर्शनकारी कलाएं शाब्दिक संप्रेषण पर आश्रित भी हैं और नहीं भी, जिस वजह से इन कलाओं की एकरूप परंपरा की कल्पना असंभव है। नाटक, नृत्य, संगीत, चित्र आदि कलाओं में विधाओं, रूपों, शैलियों और विधियों की बहुलता है। कई जटिलताओं के बावजूद भी भारत जैसे उपमहाद्वीप में नाटक – शास्त्रीय और लोक पारंपरिक शैलियों में विभक्त किया गया। इन शैली के कालगत संदर्भों से तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को पहचाना जा सकता है। साथ ही समकालीन प्रतीत होने वाले किसी कलारूप में प्राचीन कालखण्डों के अवशेष प्राप्त होते हैं। 'प्रदर्शनकारी कलाओं की परंपराओं का विकास जिस सांस्कृतिक ढांचे में हुआ उसकी यह विशेषता एक अत्यधिक अमूर्त कार्यविधि का परिचय देती है – ऐसी अमूर्त कार्यविधि का जो एक ओर इन कलारूपों की आत्मा का दिशा निर्देश करती है और उन्हें



एक मूलभूत एकता या अविच्छिन्नता तथा शाश्वता के सूत्र में बांधती है तो दूसरी ओर परिवर्तन और निरंतर प्रवाह के लिए आवश्यक उनकी अनेकता, मूर्तता और वैभिन्न्य तथा समसामयिकता की भी समान शक्ति से रक्षा करती है।¹

भारतीय रंगमंच और नाटक का स्रोत संस्कृत नाट्य परंपरा को ही माना जाता है। भारतेन्दु पूर्व नाटक और रंगमंच के बारे में जानने के लिए संस्कृत नाट्य परंपरा की भव्य परंपरा को जानना आवश्यक है। संस्कृत नाट्य परंपरा में नाटक को दो वर्गों में विभक्त किया गया – नाट्यधर्मी परंपरा और लोकधर्मी परंपरा। नाट्यधर्मी परंपरा, वह नाटक जो शास्त्रीय नाट्य तत्वों पर आधारित है, उनमें कालिदास के नाटक प्रमुख है। लोकधर्मी नाटक जोकि नाट्यधर्मी परंपरा के समानांतर साधारण जनता द्वारा पोषित परंपरा जो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से गुजरती हुई विभिन्न देशी भाषाओं में अनेक लोक पारंपरिक शैलियों के रूप में प्रकट होती हैं। वर्तमान में भी लोकधर्मी पारंपरिक नाट्य शैलियाँ जीवित हैं।

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना 200 वर्ष ई0पू0 से 200 ई0 (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ईस्वी) में की। भारतीय नाट्य परंपरा को भरत के नाट्यशास्त्र के रूप में विकसित होने में पर्याप्त समय लगा। साथ ही भरत ने नाट्यशास्त्र को पंचमवेद के रूप में स्थापित करने के लिए प्रथम अध्याय में नाट्य उत्पत्ति की जो कथा कही है उसमें इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से कहा है कि 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद भवेत्'² इस तरह ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना सुनकर ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर पंचमवेद के रूप में नाट्य की रचना की। भरत द्वारा पंचमवेद कहने का उद्देश्य संस्कृत नाट्य की धार्मिक – अनुष्ठानिक विशेषताओं को व्यंजित करने के साथ – साथ 'लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना बताना था। स्वयं भरत ने इसे वेद, स्मृति, सदाचार की परिकल्पना को सार्थक करने वाला बताया है।'³ नाटक को सफल बनाने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों के कर्मकाण्डों का प्रयोग किया जाता था। इसमें देव प्रतिमाओं की स्थापना, मत्तवारणी का पूजन, रूद्र, भूतगण, यक्ष, कुबेर, यम आदि से बलि को स्वीकार करने की प्रार्थना, रंगपीठ में फूलों की मालाओं से सुसज्जित करना, दीप प्रज्ज्वलित करना आदि क्रियाएं मंच पर नाट्य से पूर्व की जाती थी। इस प्रकार नाट्य वातावरण अनुष्ठानिक और अध्यात्मिक हो जाता था। इसके उपरांत संस्कृत नाट्य परंपरा पूरी तरह धार्मिक अनुष्ठानों पर ही आश्रित नहीं है, इसके लिए नाट्य परंपरा में सामाजिक आधार को अनदेखा नहीं करना चाहिए। संस्कृत की नाट्य परंपरा में भास के 'चारुदत्त' और 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक शूद्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक, कालिदास के 'विक्रमोर्वशी', 'मालविकाग्निमित्र' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' इन नाटकों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का मूल्यांकन दिखायी पड़ता है।

¹ पारंपरिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएं – कपिता वात्स्यायन, पृ सं. - 1

² नाट्यशास्त्र – भरतमुनि, 1/11

³ नाट्यशास्त्र – भरतमुनि, 1/ 120



पूर्व रंग परंपरा में नाट्य प्रयोग अनुष्ठानों व उत्सवों में मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। आचार्य भरतमुनि ने 'महेन्द्रध्वज' नाट्य प्रयोग उत्सव के अवसर में किया था। भवभूति का 'उत्तररामचरित' काल प्रियनाथ की और इसी प्रकार गुरु राम कवि का 'रत्नेश्वर प्रसादन' नाटक भूनाथ देव की यात्रा में खेला गया था। भास का 'प्रतिमा नाटक' शरत् काल में, कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' वसंतोत्सव में और 'अभिज्ञानशाकुंतल' ग्रीष्म ऋतु में विक्रमादित्य की राज सभा में खेला गया। श्री हर्ष का 'रत्नावली' भी वसंतोत्सव पर खेला गया था। सूत्रधार की उक्ति से यह मालूम हो जाता था कि नाटक किसके लिए खेला जा रहा है। अधिकतर नाट्य प्रयोग राजा या राजपुरुषों को तुष्ट करने के लिए खेला जाता था। इससे यह कल्पना नहीं की जा सकती ही नाटक केवल उच्च वर्ग के लोगो तक ही सीमित था क्योंकि लोक में भी अनेक उत्सवों में नाटक एक स्वीकृत परंपरा रही है।

संस्कृत रंगमंच में नाट्यधर्मी परंपरा के साथ लोकधर्मी नाट्य परंपरा भी सामानान्तर गति से चल रही थी। लेकिन जब शास्त्रीय नाट्य परंपरा विलुप्त होने लगी तब लोक पारंपरिक शैली ने नाट्य कला को जीवित रखा। 'जगदीश चन्द्र माथुर और दशरथ ओझा के प्रयत्न स्वरूप जो भाषा नाटक प्रकाश में आए हैं वे इस बात का अहसास दिलाते हैं कि मध्यकाल में नाट्य और रंग परम्परा अक्षुण्ण रही और एक लम्बे समय तक असम, नेपाल, मिथिला और बुन्देलखंड के हिन्दू राजाओं के संरक्षण में वह फलती – फूलती रही हैं।'⁴ इस प्रकार यह काल संस्कृत नाटकों की नाटकीयता का हासकाल माना जाता है।

14 वीं शताब्दी में उमापति ने 'पारिजातहरण' और विद्यापति ने 'रक्मिणी परिणय' दो नाट्य रचना की जिसमें संस्कृत के अलावा प्राकृत भाषा का आश्रय भी लिया गया। 'मिथिला में उमापति (1324 ई.) और विद्यापति (1403 ई.) ने जयदेव के गीत गोविंद के रचना स्वरूप का निष्ठापूर्वक अनुसरण किया। उमापति का पारिजातहरण एक पौराणिक प्रसंग पर आधारित था जो मध्यकाल में भारत भर में बहुत लोक प्रिय था। उन्होंने इसे संगीतबद्ध गीतों की ऐसी नाटकीय संरचना में प्रस्तुत किया जिससे इसकी नाट्य प्रस्तुति भी हो सकती थी। विद्यापति ने 'गोरक्षविजय' की रचना की जो इसी प्रकार का एक संगीत नाटक था।'⁵ इसके अतिरिक्त लोकधर्मी नाट्य परंपरा स्वतंत्र रूप से ग्रामीण जन – जीवन में फलती – फूलती रही। 'मध्यकाल में राम और कृष्ण की लीलाओं से संबंधित लोक नाट्य ही रंगमंच के साथ जुड़ने के लिए बचे रहे। पर जिस प्रकार भक्ति की जड़े बहुत पीछे तक गयी हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन लीला नाटकों की पृष्ठभूमि बहुत पुराने आध्यात्मिक अनुष्ठानों और लीला रूपों में खोजी जा सकती है।'⁶ इस तरह भक्तिकाल में नाट्य कला ने लोकधर्मी नाट्य परंपरा को अपना साधन बनाया। लोक पारंपरिक नाट्य शैली रासलीला का मुख्य उद्देश्य सांसारिक लोगों की भक्ति – रस की उपलब्धि कराना है। और, ब्रज देश रासलीला का केन्द्र था। इसकी सबसे

⁴ रंगमंच : कला और दृष्टि – गोविंद चातक पृ सं - 180

⁵ पारंपरिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएं – कपिला वात्स्यायन, पृ सं -113

⁶ रंगमंच : कला और दृष्टि – गोविंद चातक पृ सं - 181



बड़ी उपलब्धि थी कि यह भक्ति आंदोलन के समानान्तर चलने वाली साहित्यिक प्रक्रिया है। इसके प्रति सभी कृष्ण – भक्त सम्प्रदायों में एक निष्ठा दिखायी देती थी।

मध्यकाल में रासलीला को लोकप्रियता मिली लेकिन इसका अस्तित्व वैदिक काल के नृत्यकलाओं में परिलक्षित होता है। रंगमंच के विराम काल में अपभ्रंश से रास नाटकों से लेकर ब्रज की रासलीला की समृद्ध परंपरा रही है। 'भक्त कवियों की रचना में गेयता और अभिनेता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जा सकता है। उसके मूल में रासलीला नाटकों को ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी लीला नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक रीतिकालीन कवियों ने ऐसे छन्द लिखे हैं जिनमें निकुंज अथवा छद्म लीलाओं का नाटकीय संयोजन किया गया है...भारतेन्दु ने रासलीला नाटकों की परंपरा और प्रविधि का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग अपनी 'चंद्रावली' नटिका में किया है। वियोगी हरि की 'छद्म – योगिनी' नाटिका भी इसी श्रृंखला की कड़ी है।'⁷ रासलीला की भांति ही रामलीला को भी लोक परंपरा शैली में अद्भूत लोकप्रियता मिली है। पूर्व एशियाई देशों में जैसे थाइलैण्ड, कम्बोडिया, बालि, जावा आदि देशों में रामकथा के नाट्य प्रदर्शन की सुसंगठित परंपरा रही है यह परंपरा पूर्व मध्यकाल से चली आ रही है। राम कथा की महत्ता वेदों और पुराणों में भी देखी जाती है। संस्कृत नाटक साहित्य में भी राम को लेकर कई नाट्य रचनाएं मिलती हैं – भास का 'उतररामचरित', मुरारि का 'अनर्घराघव', जयदेव का 'प्रसन्नराघव', रामभद्र दीक्षित का 'जानकी परिणय', मधूसूदन मिश्र का 'हनुमन्नाटक' आदि उल्लेखनीय है। काशी और अयोध्या रामलीला के मुख्य केन्द्र रहे हैं। रामलीला खेलने की प्रचलित पद्धति में नगर के भिन्न – भिन्न क्षेत्रों में खेली जाती है कहा जाता है कि तुलसीदास ने जो रामलीला चलाई थी, उसमें यही व्यवस्था काम में लाई जाती थी। उन्होंने काशी के मुहल्लों को राम – कथा के विविध प्रसंगों से संबंधित नाम दिए हुए थे और वे प्रसंग वहीं खेल जाते थे। काशी की यह रामलीला तब से विजयादशमी के अवसर पर खेली जाती है। किन्तु अयोध्या में तुलसीदास ने चैत्र मास में रामलीला कराने की पद्धति अपनायी थी।

रामलीला और रासलीला के साथ – साथ मॉंच और ख्याल भी विशेष रूप से प्रचलित लोकधर्मी पारंपरिक नाट्य शैलियाँ हैं। मॉंच शब्द से बना मॉंच का अर्थ लोक नाट्य की मंचीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। यह मालवा का प्रचलित लोक नाट्य है। इस लोक शैली का मूल आधार मंच की साज – सज्जा है। 'इसमें मंच दृढ़ खम्भों पर कई फुट ऊंचा बनाया जाता है और मंच को आम के पत्तों, झालरों, कागज की रंगीन झंडियों से सजाया जाता है। मॉंच के नाट्यारम्भ की प्रस्तावना बड़ी रोचक होती है। कथावस्तु की दृष्टि से इसकी मूल प्रवृत्ति वीरपूजा दिखायी देती है। इसके साथ ही इसमें पौराणिक आख्यानों का भी समावेश होता है।'⁸ इसी तरह राजस्थान में मॉंच ख्याल के रूप में प्रचलित है।

⁷ हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा – डॉ चंद्रप्रकाश सिंह, पृ सं – 121 – 22

⁸ रंगमंच : कला और दृष्टि – गोविंद चातक, पृ सं - 185



उत्तर – पूर्वी क्षेत्रों में भगत, स्वाँग और नौटंकी लोक पारंपरिक नाट्य शैलियों का सीधा संबंध जन साधारण से रहा है। इन शैलियों की विषय सामग्री पुराणों से ली जाती थी परन्तु सामाजिक चेतना इनकी प्रमुख विशेषता होती थी। उत्तर प्रदेश में नौटंकी नाम से जानी जाने वाली विधा राजस्थान में ख्याल; मध्यप्रदेश में नाच या मंच; पंजाब और अन्य क्षेत्रों में स्वाँग के नाम से जानी जाती थी। यद्यपि प्रत्येक क्षेत्र में लोक नाट्य विधा की अपनी विशिष्टता थी और अलग – अलग क्षेत्रों का भाषायी प्रयोग हो रहा था। नाटक की संरचना और प्रविधियों की दृष्टि से इन शैलियों में समानता थी। यह शैलियाँ उत्तर – पूर्व के राज्यों में विकसित हुईं। 'स्वाँग' शब्द ओडिसा के छद्म या छऊ का ही प्रतिरूप है जिसका व्यवहार तीनों छऊ रूपों में होता है और जिससे असम भी परिचित है। यह शब्द ओडिसा, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब और हरियाणा के साथ – साथ कश्मीर में भी प्रचलित था।

इन शैलियों की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगारी है। कुछ लोग 'नौटंकी' की व्युत्पत्ति नाटिका से मानते हैं और उसकी परंपरा नाट्यशास्त्र के सङ्क से भी जोड़ते हैं। नौटंकी लोकनाट्य – रूप का विशेष बल काव्य और संगीत पर होता है। कथावस्तु की प्रस्तुति में न यथार्थ पर ध्यान होता है, न दृश्य पर और न देशकाल पर। ब्रज और हरियाणा में नौटंकी की ही शैली पर 'भगत' लोकनाट्य का प्रचलन है। उत्तर प्रदेश के आगरा और हाथरस शहर में भिन्न – भिन्न प्रकार के 'भगत' लोकनाट्य होते हैं। वर्तमान में भी भारतीय प्रदर्शनकारी कलाएं, गुजरात में भवई, महाराष्ट्र में तमाशा और बंगाल में जात्रा जिसे यात्रा जैसी लोक पारंपरिक नाट्य शैलियाँ उपलब्ध हैं। इसी तरह दक्षिण भारत में आंध्र के भामकलापम, तमिलनाडु के भागवतमेला और कर्नाटक के यक्षगान, केरल के कुटियट्टम और कृष्णाट्टम लोक नाट्य शैलियाँ देखने को मिलती हैं। भारतीय नाटक और रंगमंच की शुरुआत से पहले ही नाटक की विशाल परंपरा रही है। इसलिये आधुनिक नाटक में आते – आते नाटक का इतिहास संभव है क्योंकि यह साहित्य की प्राचीनतम विधा है।

स्वाँग, ख्याल और नौटंकी

मध्ययुगीन परंपराशील नाट्य परंपराओं में, पश्चिम भारत के अधिकांश भागों में और साथ ही ओडिसा तथा मध्यप्रदेश में भी कुछ ऐसी नाट्य विधाएं विकसित हुईं जो उत्तरवर्ती यात्रा व जात्रा शैली से मिलती – जुलती हैं। ओडिसा में खेली जाने वाली नाट्य विधा को स्वाँग कहा जाता है जिसका नाट्य-तत्व बंगाल के जात्रा के समकक्ष है। इनकी कथा मूलतः पौराणिक कथा से ली जाती थी। साथ ही, सामाजिक चेतना इन सबकी प्रमुख विशेषता थी। ये विधाएँ राम और कृष्ण के शाश्वत कथ्यों से कट चुकी थीं। उत्तर प्रदेश में यह विधा नौटंकी के नाम से जानी जाती है। राजस्थान में ख्याल, मध्यप्रदेश में नाच या मंच, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि क्षेत्रों में स्वाँग के नाम से जानी जाती है। विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में अलग – अलग भाषाओं का प्रयोग होता है, तथापि उद्देश्य की दृष्टि से ये सभी एकता के सूत्र में बंधी हुई होती हैं। कथावस्तु नाटकीय संरचना तथा नाट्यगत प्रविधियों की दृष्टि से भी उनमें बहुत समानता होती है।

नौटंकी – एक प्रकार के गीति नाट्य – में सदा किसी ऐतिहासिक योद्धा, किसी दयावान डाकू या किसी प्रेमी की कहानी होती है। मध्यकालीन भांटो की वारो और नाटकीय ढंग के गीतों से धीरे – धीरे नौटंकी का रूप



बना। इसमें प्रयोग में आने वाले संवाद और गीत प्रादेशिक भाषा में होते हैं। संगीतमय भाषा के साथ - साथ लोकगीतों के आधार पर संगीत की व्यवस्था की जाती है। किशोर आयु के लड़के स्त्रियों की भूमिका करते हैं। मंचीय व्यवस्था में लकड़ी के तख्तपोशों को जोड़कर बनाया जाता है। नगाड़े वाला खेल शुरू होने से पहले नगाड़ा बजाता है और अपने करतब दिखाता है। इस मंडली के गुरु को रंगा कहते हैं। यही सूत्रधार, यही निर्माता और यही मंच का संचालक होता है। वह सारे खेल का चाल और सुर बाँधता है और मंच पर पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की सूचना देता है। अमरसिंह राठौर, सुच्चा सिंह, सूरमा, रूपमती - बाज बहादुर और मारू -ढोला आदि के किस्से नौटंकी में खेले जाते हैं।

स्वांग शब्द ओड़िसा के छऊ का प्रतिरूप है जिसका व्यवहार तीनों छऊ रूपों में किया जाता है। यह शब्द ओड़िसा, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब और हरियाणा के साथ - साथ कश्मीर में भी बोला जाता है। स्वांग, नाटक या नाटिका तथा प्रहसन जैसा ही सशक्त नाट्य रूप है। आज भी स्वांग शैली की प्रस्तुति होली-उत्सव के समय देखने के लिए मिल जाती है। राजस्थान में स्वांग की परिधि बहुत विस्तृत है। विवाह के अवसर पर झमतरे, तूंतिया और तुंतिकी की प्रस्तुति की जाती है। इनमें संवाद शैली तीखी और गायन शैली प्रांजल होती है, वहीं नाटकीय तत्व सीमित होता है। होली आदि के अवसर पर अन्य रूपों की प्रस्तुति की जाती है। साथ ही कुछ अन्य रूप भी हैं जो ढोला-मारू जैसे लोकप्रिय विषय-वस्तु पर आधारित होते हैं।

उत्तर प्रदेश का ख्याल और राजस्थान में खेला जाने वाला ख्याल एक अधिक विकसित रूप है जिसकी जड़ें सामाजिक वाग्विदग्धता और हास्य में जितनी गहरी हैं उतनी ही इसी नाम से साहित्य विधा में⁹ ख्याल को रमत, खेल आदि नामों से भी जाना जाता है। ख्याल काव्यात्मक नाटकीय रचना है। इसकी अनेक शैलियां मौजूद हैं। इसे व्यावसायिक संगीतकारों और अभिनेताओं के एक विशेष वर्ग का परीक्षण प्राप्त होता है। समुदाय के आधार पर या प्रस्तुति के स्वरूप और शिल्प के आधार पर अनेक परंपराशील नाट्य शैलियों का नामकरण हुआ है। प्रत्येक शैली ने अपने लिए विशेष रंगमंचीय प्रणाली और आधारभूत रंग-सज्जा की विकसित किया है। निःसंदेह विभिन्न शैलियों की अलग- अलग पहचान जितनी अंतर्वस्तु, भाषा, बोली और संगीत शिल्प के आधार पर की जा सकती है उतना ही रंगमंच के आकार-प्रकार पर भी की जा सकती है। नृत्य नाटक के अन्य सभी रूपों की भांति ख्याल की प्रस्तुति की शुरुआत नगाड़ा बजाकर होती है। ऐसा राजस्थानी वाद्य यंत्रों के वादन तथा गायन के माध्यम से किया जाता है। नगाड़ा, ढोलक, मंजीरा तथा हारमोनियम भी ख्याल के मुख्य वाद्य यंत्र हैं।

इन नाट्य रूपों की तकनीकी विशेषताओं का निर्धारण उनके अपने सामाजिक - सांस्कृतिक परिवेश द्वारा तथा समाज के उन वर्गों द्वारा हुआ है जिनके बीच ये प्रस्तुत किये जाते थे। अतः जहाँ एक दृष्टि से वे लोकधर्मी हैं वहीं

⁹ पारंपरिक भारतीय रंगमंच, कपिला वात्स्यायन, पृ सं - 130



उनमें अनेक नाट्यधर्मी विशेषताएं भी हैं। सहज रंगसज्जा आदि की सहायता से यथार्थ चित्रण करने की अपेक्षा इनमें सांकेतिकता आदि की शैलीगत विशेषताओं पर अधिक बल दिया जाता है।

उत्तर भारत में भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच की अवधारणा लीला नाटकों के अंतर्गत देखी जाती है। 'लीला नाटक दो सबसे अधिक लोकप्रिय अवतारों - राम और कृष्ण - की कथा से संबंधित है। अवतार रूप में वे अपनी लीला करते हैं (Divine sports) और सामान्य मानव के रूप में मानवी व्यवहार करते हैं। लीला नाटकों में छोटी आयु के बच्चे लीला खेलते हैं जिनको स्वरूप (god's own image) कहा जाता है। अवतार की धारणा ने और लीला प्रदर्शनों ने ईश्वर की एक निश्चित धारणा का चिंतन बदल दिया। सो, अवतार की धारणा लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में लोकप्रिय हो गई। मंदिरों की मूर्ति कला और मध्ययुगीन चित्रकला में विष्णु के अवतारों - विशेषकर राम और कृष्ण का व्यापक चित्रण हुआ है। चित्रांकन कलाएँ प्रायः मौखिक और प्रदर्शन परंपरा से अपने विषय लेती हैं और प्रभावित होती हैं। मंदिरों की मूर्तियाँ और चित्र परंपरा अवतार भाव की लोकप्रियता का प्रमाण हैं।¹⁰ रामलीला का कथानक महाकाव्य रामायण से लिया गया है। यह अत्यंत प्राचीन परंपरा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में राम ऐसे श्लाकापुरुष हुए जिनका आदर्श जनता के जीवन - उन्नयन का प्रधान आधार बन गया। यही कारण है कि जहाँ उन्हें लेकर प्राचीन काल से ही अनेक उत्कृष्ट काव्यों की सृष्टि हुई वहीं उनके जीवन पर नाटक बड़ी संख्या में लिखे और खेले गए। इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि कई दिनों तक चलने वाली श्रृंखलाबद्ध रामलीला का कोई रूप संस्कृत में अभिनीत होता रहा होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह लीला वाल्मीकि कृत रामायण के आधार पर होती थी किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है। तुलसीदास ऐसी किसी लीला से परिचित जान पड़ते हैं -

चरमदेह द्विज के मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।

खेलौ तहूँ बालकान्ह मीला। कीन् सब रघुनायक लीला ॥¹¹

हिंदू धर्म के अतिरिक्त जैन परंपरा में अभिनीत होने वाले अपभ्रंश चरितकाव्यों की प्रेरणा राम 'चरित' मानस की अभिनय - योजना के मूल में होने की भी संभावना हो सकती है। जो कुछ भी हो, वर्तमान रामलीला का न केवल आधार गोस्वामी कृत 'मानस' है बल्कि उसकी पद्धति पर भी उनकी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। भक्तिकाल में मेघा भगत तुलसीदास के मित्र और प्रशंसक थे। कहा जाता है कि पहले वे किसी प्रकार की रामलीला कराते थे जो संभवतः वाल्मीकीय रामायण पर आधारित थी। तुलसी की प्रेरणा से उन्होंने काशी खंड में 'मानस' के आधार पर रामलीला शुरू की जो आज भी 'चित्रकूट की लीला' के नाम से प्रदर्शित होती चली आ रही है। मेघाभगत और इस लीला को लेकर अनेक चमत्कारिक अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं।

¹⁰ हे सामाजिक, सुरेश अवस्थी, पृ. सं - 22

¹¹ रामचरितमानस, तुलसीदास, सप्तम सोपान, 41/10



कृष्णदत्त मिश्र द्वारा रचित 'गौतमचंद्रिका'¹² के माध्यम से ज्ञात होता है कि वाराणसी के दक्षिणी 'केदार खंड' में गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला का स्वयं समारंभ किया था। इस 'गौतम चंद्रिका' में तुलसीदास द्वारा 'रामलीला' प्रारंभ करने का विवरण प्रस्तुत किया गया है –

नवमी दुर्गापूजन करि । विजयादसमी समी सोस धरि ॥
श्रवन किए षटकांड सुहावन । वाल्मीकिरामायन पावन ॥
एकादसी व्रत द्वादसि पारन । तेरसि हरिप्रसाद कर धारन ॥
चौदसि रघुपति राज प्रसंगा । तुलसी सुनत विलोकत गंगा ॥
चिंतत भरत भारती निरनय । मन दृग देखत हनुमत अभिनय ॥
श्री रामायन व्यास कहैं, वाल्मीकि प्रति अच्छ ।
जानि मानि पूजन किए, विधिवत् तुलसी स्वच्छ ॥ ।
पूजि कबीस कपीस पुजारी । रामराजलीला बिस्तारी ॥
छत्र सरदपूनो ससि साजे । महि सिंहासन राम विराजे ॥
बाम भाग सीता महरानी । दाहिन लषन चँवर वर फनी ॥
जगदाधार अनंत अहीसा । राम रजाय घरे महि सीसा ॥
सदा राम आयसु अनुसारी । विस्वभरन पोषन अधिकारी ॥
भरत उदार बने युवराजा । श्री सत्रुहन सजत सब काजा ॥
अंतःपुर रच्छक जन त्राता । सूर सुसील लषन लघु भ्राता ॥
सेनप हनुमत मंगल दाता । सजि आरती उतारहिं माता ॥
कौसल्या जननी रघुवर की । जयती जयति जय जय श्रीधर की ॥
राजा राम जानकी रानी । रही भुवन भरि जय जय बानी ॥
असीघाट सुरसरि समीपक । संभु दिंगबर अंबर दीपक ॥

¹² रामलीला परंपरा और शैलियाँ, इन्दुजा अवस्थी, पृ. सं -



जासु प्रकास प्रकासित कासी । दायिनि मुक्ति भुक्ति सुखरासी ॥

तुलसी थल नभ दीप प्रकासी । लहे रामदर्शन मनि रासी ॥

इससे संकेत मिलता है कि तुलसीदास ने 'रामलीला' का समारंभ अनुष्ठानपूर्वक किया था । वाल्मीकि रामायण की कथा किसी व्यास के मुख से सुनते हुए उनके मन में यह विचार आया । तब उनका ध्यान भरत के नाट्यशास्त्र और 'हनुमन्नाटक' की ओर जाना स्वाभाविक था । साथ ही तुलसी ने इन ग्रंथों से लीला नाटक के रंगमंचीय तत्वों को शामिल किया । रामायण के व्यास को ही प्रत्यक्ष वाल्मीकि मानकर गोस्वामी ने उनकी पूजा की और तब सबसे पहले शरद पूर्णिमा की रात्रि में 'रामराज्य' की लीला अभिनीत की । कवि के भावलोक में संपूर्ण पृथ्वी राम का सिंहासन थी और पूनों का चंद्र छत्र । राम की बायीं ओर सीता बैठी थी और दाहिनी ओर लक्ष्मण चँवर लिए खड़े थे । भरत जी युवराज बने थे और शत्रुघ्न सब प्रबंध कर रहे थे । हनुमान सेनापति थे और माँ कौशल्या थाली सजाकर आरती उतार रही थी । गंगा के तट अस्सीघाट पर यह लीला हुई ।

उत्तर भारत में भक्तों ने राम और कृष्ण लीला से भक्तिकालीन रंगमंच को परिष्कृत किया । रामलीला, रासलीला आदि वैष्णव – नाटकों के लिए किसी विशेष रंगमंच की व्यवस्था नहीं होती थी, परंतु पात्रों की सजावट की व्यवस्था होती थी । इसमें सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य का भी आयोजन होता था । प्रायः खुले मैदान में अभिनय होता था जिसके कारण युद्ध, विवाह आदि के भी दृश्य आसानी से दिखाये जाने लगे । भक्ति – भावना में वृद्धि हो जाने के कारण राम, कृष्ण आदि के जीवन से संबंध रखने वाले ही अभिनय प्रायः जनता के सम्मुख प्रदर्शित किये जाते थे । पात्रों को अभिनय की शिक्षा भी नहीं दी जाती थी । निर्देशक जनता के सामने ही अभिनेताओं को बताता चलता था । दर्शकों के मनोरंजन के लिए साधारण ढंग से परिहास प्रस्तुत किये जाते थे । कीर्तनों, जुलूसों, प्रभातफेरियों और संगीत – नाटकों के द्वारा इसका प्रचार होने लगा । धार्मिक उत्सवों के रूप में रामलीला का प्रदर्शन चौदह दिनों तक होता था । इसमें कथाकार चौपाइयाँ गाता है और बिखरे हुए नाट्य – कार्यों को जोड़ता है । हर रात रामायण का एक निश्चित अंश खेला जाता है । खेलने वालों के मुकुट – मुखौटे और श्रृंगार सुनहरे व रंगीन होते हैं । उनके मखमल और रेशम के सलमे – सितारे वाले वस्त्र झिलमिल – झिलमिल करते हैं । कार्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत शीघ्रता से बदलता है । भारतीय प्रदर्शनकारी कला 'रामलीला' में दृश्यों के क्रम पश्चिम के चौखटे – जड़े मंच के समान नहीं होते थे क्योंकि पश्चिमी मंचों में दृश्यों की संयोजना यथार्थवादी होती है । उत्तर भारत की रामलीला में एक ही समय में कई स्तरों पर भिन्न – भिन्न दृश्य संयोजित कर दिए जाते हैं । जब जनक की सभा में सीता का स्वयंवर हो रहा होता है तब हम साथ ही उस जंगल का दृश्य भी देखते, जहाँ पहले राम तथा लक्ष्मण ने राक्षसों का हनन किया था । एक स्थल पर राम – रावण का युद्ध हो रहा है और दूसरे स्थल पर सीता अशोक - वाटिका में बैठी दिखाई देती है ।

भागवत धर्म की कथाएँ देश के एक छोर से दूसरे छोर तक आंचलिक परम्पराशील नाट्यों में प्रचलित हैं । हिरण्यकशिपु और नृसिंह का वृतान्त आंध्र, तमिलनाडु, अंकिया नाट और मथुरा की नृसिंहयात्रा में दिखाया जाता है ।



इस कथा का नाटकीय तत्व हिरण्यकशिपु के मद, घमण्ड के विस्तार और हनन में विद्यमान है। वस्तुतः भागवत धर्म के नाट्य में दर्प और घमण्ड को इसलिए इतनी अतिशयोक्ति के साथ प्रदर्शित किया जाता है ताकि उसकी तुलना में भगवद्भक्ति के विनय और शालीनता का प्रभाव प्रेक्षकों पर गहरा पड़े। परशुराम - विजय, रावण - वध, रुक्मिणी - हरण इत्यादि नाटकों में परशुराम, रावण और रुक्म का चित्रण इसीलिए बड़ी सशक्त भाषा में और उनका अभिनय बड़े ओजस्वी ढंग से किया जाता है। प्रायः सबसे अधिक अनुभवी और सिद्धहस्त अभिनेता इन भूमिकाओं में उतरते हैं।

इस प्रचण्ड वातावरण के अतिरिक्त भागवत नाटकों में मधुर और आत्मीय वातावरण का भी प्रत्यक्षीकरण है। परिजातहरण कई शैलियों में लोकप्रिय कथावस्तु है। कृष्ण उसमें एक सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रतीत होते हैं जो अपनी दो पत्नियों - रुक्मिणी और सत्यभामा के पारस्परिक विवाद को रोक नहीं पाते। विशेषतः सत्यभामा का चरित कुचिपुडी में इतने कौशल के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि वहाँ एक नई अभिव्यंजना - शैली प्रचलित हो गई है जिसे भामाकलापम् कहा जाता है और जिसे प्रस्तुत करने के लिए अत्यंत उच्चकोटि के अभिनय की आवश्यकता होती है।

बालकृष्ण की छवि मथुरा - वृन्दावन की रासलीलाओं और असम के झुमरा नाटों में रूपायित हुई। दानलीला का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण असम के माधवदेव के एक झुमरा में हुआ। उसके बाद ब्रज में तो लीलाओं की बाढ़ - सी आ गई। जनसाधारण के बीच भगवान से इतना अंतरंग संबंध स्थापित कर देते हैं कि भक्त को भगवान का स्पर्श सहज संभाव्य जान पड़ता है। आदिशक्ति स्रोत, मातृ स्वरूप दुर्गा और चण्डी के रूप में बंगाल के जात्रा - नाटकों में उद्भासित है। चण्डीमंगल जात्रा में दुर्गा के अपने पितृगृह लौटने की कथा को ऐसे सरल और भावुक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है मानो बंगाल की किसी सामान्य गृहस्थी में कन्या के घर लौटने की झाँकी हो। आज भी वैष्णव - संप्रदाय जात्रा का, अपने मत के प्रचार के लिए अत्यंत प्रभावोत्पादक तरीके से उपयोग करता है। आधुनिक जात्राओं में चैतन्य महाप्रभु के चरित से संबद्ध जात्रा अत्यंत मनोहारिणी है।

‘कृष्ण आधारित बाल चरित्र और युवाकाल से संबंधित कोई चालीस लीलाएँ हैं। इनका पाठ सूरदास, नंददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के कृष्ण काव्य से तैयार किया जाता है जिनका चयन और संपादन रास मंडली के अधिकारी (जिनको स्वामी कहते हैं) करते हैं। कुछ स्वामी काव्य रचना भी करते हैं, और जहाँ आवश्यक हुआ अपनी रचनाओं का भी लीला में प्रयोग करते हैं। रसिया जैसे ब्रज मंडल के कुछ लोकगीत भी लीला साहित्य का अंग बन गए हैं। रामलीलाएँ लाखों की संख्या में प्रकाशित होती हैं और पूरे हिंदी - भाषी क्षेत्रों में पढ़ी जाती हैं जिसे लोग गाया भी करते हैं।

रास भावमय और रसमय प्रदर्शन का प्रादुर्भाव उसी मध्यकाल में होता है जिसे हिंदी साहित्य के विद्वान नाटक और रंगमंच की दृष्टि से अंधकार - काल मानते हैं। वे इसके कारणों का बहुविध विश्लेषण भी करते हैं पर यह आश्चर्य की बात है कि इतने समृद्ध और लोकरंजक अभिनय एवं प्रस्तुति की ओर विद्वानों का ध्यान



नहीं गया। शिष्ट नाट्य रूप उन्हीं नाट्यरूपों को माना गया जो सामान्य रूप से राज्याश्रय या सेठाश्रय के रूप में विकसित तो हुए पर रासलीला शुद्ध रूप से जनाधारित लोक नाट्य का रूप रहा है यदि किसी ने सहायता दी तो उसे अकुण्ठ भाव से ग्रहण किया और नहीं दी तो उससे मांगने भी नहीं गए।

रास की ऊर्जा का उत्स तत्कालीन भक्ति आंदोलन में है। पूर्व मध्यकाल में उपासना के संप्रदायनिष्ठ प्रकारों में भी काव्य लेखन, गायन, नृत्य को आदरपूर्वक स्वीकार किया गया था। सगुण और निर्गुण दोनों ही पद्धतियों में काव्यास्वाद भक्ति का एक प्रमुख एवं मान्य तरीका था। निर्गुण भक्तों में, संत साधकों में कबीर, नानक, दादू, पीपा, सेना, नामदेव आदि कवि के रूप में समादृत हैं।

काव्य रचना कर भक्ति को सगुण भक्तों ने और समृद्ध किया। सगुण ने अपने मुख्य आधार के रूप में चार मुख्य तत्वों को स्वीकार किया। 1. नाम, 2. रूप, 3. लीला, 4. धाम।

प्रथम दो 'नाम' और 'रूप' को निर्गुण साधकों ने भी स्वीकार किया, संतों ने भी, सूफियों ने भी। 'लीला' और 'धाम' इन दो तत्वों के समावेश ने सगुण काव्य को चाक्षुष, लोकरंजक, निःश्रेयस और अभ्युदय का दाता बना दिया। लीला ब्रह्म की चर्या थी और धाम वह रंगभूमि जहाँ लीला घटित होती है। लीला तत्व की अवधारणा महाकवि सूरदास के गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत के आधार पर स्थापित पुष्टिमार्ग की अवधारणा में निहित है। भागवत के 'पोषणं तदनुग्रह' के आधार पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह के अर्थ में ही पुष्टि शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रेम भक्ति के आधार पर अंश रूप जीव – अंशी ब्रह्म के साथ जो संबंध स्थापित करता है वही ब्रह्म – संबंध है। यद्यपि पुष्टिमार्ग में गोपालकृष्ण के बालरूप की ही प्रकटतः वैधानिक मान्यता है परंतु उनकी कैशोर्य भाव की उपासना का भी विशद विस्तार पुष्टिमार्गी भक्त कवियों में मिलता है। वत्सल मत में मधुर भाव के भक्त सखी रूप होते हैं। राधिका इन सखियों में सर्वोपरि हैं। वस्तुतः वे स्वामिनी जी ही कही जाती हैं। कृष्ण के मुख्य सखा आठ हैं और उनकी सखियाँ भी आठ हैं। इनके अतिरिक्त असंख्य सखा व सखियाँ हैं। अष्टछाप के कवि (जो कृष्ण के सखा कहे जाते हैं) रात्रिकालीन कुंजलीला में सखी-रूप हो जाते हैं।

'रासलीलानुकरण का प्रवर्तन किसके द्वारा हुआ इस विषय पर विद्वानों में विवाद है। रासलीलानुकरण के प्रवर्तक के रूप में जो नाम अबतक सामने आए हैं वे इस प्रकार हैं – वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, महात्मा घमण्डदेव, गोस्वामी हित हरिवंश, भक्तवर नारायण भट्ट, गोस्वामी, गोकुलनाथ एवं वल्लभ के पूर्व स्वामी हरिदास जी द्वारा सम्पन्न माना जाता है। आचार्य वल्लभ ने इस लीला प्रवर्तन की उचित वैधानिकता प्रतिपादित कर, इसके प्रचार के लिए अपने अनुगतों को प्रोत्साहित किया।' रासलीलानुकरण में लीला-पात्रों के मण्डलाकार खड़े होने वाले स्थान अथवा मंच को रास – मण्डल कहा जाता है। ये आकृति में मण्डलाकार होते हैं। इनके एक ओर एक सीढ़ीनुमा सिंहासन बनाया जाता है जिसपर लीला – प्रदर्शन के समय ऊपरी भाग पे श्रीकृष्ण विराजमान होते हैं। कभी – कभी पार्श्व में सखियाँ चंवर सेवा आदि करती भी खड़ी हो जाती हैं। सिंहासन के सामने का कुछ भू – भाग छोड़कर



रास मण्डल पर तीन ओर दर्शक बैठते हैं। बीच के भाग में लीला पात्र रासलीलाएँ सम्पन्न करते हैं। पक्के बने हुए रास मण्डल के अतिरिक्त स्थान की सुलभता और लीला दर्शकों की आवश्यकता के अनुसार ये रास मण्डल किसी भी भू-भाग में, किसी भी घर के प्रांगण में, मंदिर के आंगन में, हवेली की छत पर, यमुना के तट पर अथवा बाग में बना लिया जाता है और सिंहासन के लिए तख्त, चौकी अथवा कुर्सी आदि का प्रयोग कर लिया जाता है। इस तरह के रंग मण्डलों का उल्लेख हमें ब्रिटिश रेजीडेन्स क प्रधान अंगरक्षक टामस डूएर ब्रौटन की पुस्तक 'लेटर्स रिटेन इन मराठा कैम्प ड्यूरिंग द इयर 1809 में प्राप्त हैं। इस विवरण के अनुसार रास मण्डल का शामियाना 150 फुट लम्बा था। इसमें लगे बांसों और बल्लियों को रंगीन कागजों से सजाया गया था। सामने के भू-भाग में 12 फुटी ऊंचा रंगमंच बनाया गया था। इसे स्तम्भ व शिविकाओं से अच्छी तरह सजाया गया था। इस भाग को ब्रौटन के अनुसार राजसिंहासन कहा गया है। इस शामियाने का मध्य-भाग लीला-दर्शन के लिए उपयोग में लाया जाता था और इसके दोनों ओर दर्शक बैठते थे। इस प्रकार के खुले रासमण्डल का समर्थन हमें प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। गोवर्धन के निकट बने चंद्र – सरोवर पर खुले स्थान में सारस्वत कल्प के शारदीय रास का आयोजन ऐसे ही अस्थायी रंग मण्डल में हुआ था। इस तरीके के अनेक संदर्भों का उल्लेख आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' में मिलता है।'

रास में संगीत का महत्व: रासलीला में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। अभिनय और भावानुकीर्तन का आधार संगीत ही रहता है। संगीत के बिना रास की परिकल्पना नहीं की जा सकती। लीला साहित्य का आधार ही छन्द विधान है। इन लीलाओं में ध्रुपद, धमाल, ठुमरी आदि विशिष्ट गायकी से सम्पन्न रचनाओं का उपयोग किया जाता है। वहां भक्ति साहित्य के प्रमुख छन्द, कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, चौपाई और पद रचनाओं के अतिरिक्त छप्पय और कुण्डलियाँ आदि छन्दों का प्रमुख स्थान है। दोहा और रोला के सहयोग से निर्मित भक्त कवियों की अनेक पद रचनाएं भी रास मंच पर सुनी जाती हैं। महाकवि नन्ददास के भ्रमरगीत में प्रयुक्त छन्द विशेष भी रोला के पादों, दोहा के चार पादों और ध्रुपक रूप में; दस मात्राओं की एक पंक्ति के योग से 'सप्तपदी प्रगाथ' छंद का रूप ग्रहण करता है। रास की इस संकीर्तन प्रणाली में लीला पात्र और लीला दर्शक दोनों एकरस हो जाते हैं। रास मंच में स्थान व समय परिवर्तन को लक्षित करने के लिए रास मण्डल पर दो पग इधर या उधर चलना अथवा किसी पद गायन से देशकाल की प्रतीति करा देना- इस मंच के सहज धर्म हैं। रास मंच के लोकस्वरूप की यह विशेषता है। रास मंच पर ऋतुओं की मादकता, वातावरण की मनोरमता, यमुना गिरिराज आदि की उपस्थिति करने के लिए संगीत की स्वरलहरियां ही पर्याप्त मानी जाती हैं। लीला अभिनय में बड़े – बड़े प्रतीकों व संकेतों की व्यवस्था का भाव आंगिक चेष्टाओं से भी संभव होता है।

रासेश्वर श्री कृष्ण में इस प्रकार से किया गया सर्वस्व समर्पण वही अनुभूति प्रदान करने में समर्थ है जो योगियों को 'भूमा' में, ज्ञानियों को 'प्रमा' और भक्त को 'परा' में प्राप्त होती है। इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों का यहाँ कोई अस्तित्व नहीं होता। चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध यहीं हो जाता है। लोकाभिव्यक्ति और उच्चभावानुभूति का असाधारण सामर्थ्य इसे अभिनय मंचन के श्रेष्ठ नाट्य रूप में परिणत कर देता है। विद्वानों के इस



अभिमत को खुली चुनौती है कि 'मध्यकाल' नाटक की दृष्टि से अंधकार काल है। इसने श्रेष्ठ लोकग्राही मंच सिद्ध नाट्य रूप की स्थापना एवं उसक उत्कर्ष की प्राप्ति इसी काल में होती है। आस्वादक के लिए यह कलिमल हरनी, मंगल करनी है।

संलग्नक 'रास'

ताल कहरवा या दादरा में गेय झूमर नृत्य की रचना

आली चलो आली चलौ।

पनघट पर ठाड़ौ छैल, रोकि गैल

बरजोरी मोरी गागरी फोरी

आली चलौ आली चलौ।

अगर बगर झगर करत, मानत नाहीं री

ऐ हां नंदलाल री

मोसों कीनी बरजोरी, गागरि मोरी फोरी

निपट निडर झगर करत, मानत नाही री

आली चलौ आली चलौ।

-

हां जी रच्यौ रास रंग

हां जो रच्यौ रास रंग, श्म सवहिन सुख दीनों

मुरली धुनि कर प्रकास, खग मृग सुत रस उदास

युवतिन तज गेह बास, बनहि गमन कीनों।

मोहे सुर असुर नाग मुनि जन मन गये जाग,

सिव सराद नारदादि, थकित भये ग्यानी। अमरागन, अमर नारी, आई लोकन बिसारि,

ओक लोक त्याग कहत धन्य – धन्य बानी।



थकित भयौ गति समीर, चंद्रमा भयौ अधीर,
तारागन लज्जित भये, मारग नहि पावै ।
उलटि जमुना बहत धार, सुन्दर तन सज सिंगार
सूरज प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावै । हां जी ॥

नाचत रास में रास बिहारी

नचवत हे ब्रज की सब नारी

तादीम् तादीम् तत – तत थेई – थेई

थुंगन थुंगन लेत गति न्यारी

भक्तिकालीन रंगमंच में प्रेमाख्यान आंचलिक नाट्य के उतने व्यापक रूप कथानकों के उद्गम नहीं हैं जितने पौराणिक प्रसंग। वस्तुतः आंचलिक नाट्य का कलेवर सबसे अधिक मात्रा में पुराणों और कथाओं द्वारा पोषित हैं। संस्कृत नाटकों ने भी पात्र और कथाबीज पुराणों व रामायण – महाभारत से ग्रहण किये जैसे यूनान तथा रोम के नाटकों ने उन देशों के प्राचीन आख्यानों से; किंतु पुरावृत्तों से विचार या दृष्टिकोण नहीं लिये गये। मध्यकालीन युग में जब परंपराशील आंचलिक नाट्य – शैलियाँ विकसित हुईं; तब समाज में दो प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक तो उन तथाकथित धार्मिक कृत्यों के विरुद्ध जो शाक्तों, तांत्रिकों और वाममार्गियों द्वारा फैलाये गये थे और दूसरे संस्कृत के राजदरबार – संबंधी नाटकों में वर्णित उच्चवर्गीय समाज के अनैतिक आचरणों के विरुद्ध। भागवत धर्म इन दोनों प्रतिक्रियाओं का मूर्त और लोकसंग्रही रूप था। जो नाट्य उस वातावरण में पला और पनपा उसे भागवत धर्म से पात्र और कथाएं तो मिलीं ही; आदर्श, नीति और भक्ति – प्रेरणा का कलेवर भी प्राप्त हुआ। भागवत धर्म के लिए भी यह हितकर परिस्थिति थी क्योंकि रंगशाला और नाट्य भक्ति – संदेश के माध्यम बन गये। मुस्लिम – राज्य में धर्म का संवर्धन राजदरबार से हटकर रंगशाला का उत्तरदायित्व हो गया। रासलीला, रामलीला, कुचिपुडि, अंकिया नाट, जात्रा, दशावतार इत्यादि ने ही भागवत धर्म को जन – साधारण के बीच स्थिर रखा, उसका विस्तार किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य और शंकरदेव ने बहुजन – संप्रेषण के लिए ये ही साधना इस्तेमाल किये। बौद्धधर्म के लोकमानस से उठ जाने का कारण केवल यही नहीं था कि उसे जो राजकीय संरक्षण प्राप्त था वह लुप्त हो गया, बल्कि यह भी कि उसे ऐसे प्रतिपक्षी यानी भागवत धर्म से मुकाबला करना पड़ा जिसके पास विशाल जनता पर प्रभाव डालने के अत्यंत रोचक, दृश्य – श्रव्य साधन मौजूद थे – गोया नाटक, नृत्य संगीत, कठपुतली इत्यादि। इस्लामिक शासन के बावजूद भागवत



धर्म परंपराशील रंगमंच के कारण जनमानसे में 400 वर्ष से बराबर प्रतिष्ठित रहा और आज भी उसका प्रभाव बाकी है ।

हिंदी साहित्य में हिंदी रंगमंच का उद्भव और विकास आधुनिक साहित्य में भारतेन्दु से माना गया है परंतु यदि हम हिंदी रंगमंच को आधुनिक विधा मानेंगे तो हम लोक रंगमंच को पूरी तरह से अनदेखा कर रहे होंगे क्योंकि भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच वह रंगमंच है जो तत्कालीन जनता की जीवनशैली से धरातल रूप में जुड़ा हुआ है। यह सत्य है कि संस्कृत में नाटक और नाटककारों की प्राचीनतम परंपरा में भरतमुनि के नाट्यशास्त्रों के नियमों और सिद्धांतों का कठोरता से पालन हुआ है लेकिन संस्कृत के बाद साहित्य से नाटक और रंगमंच की परंपरा समाप्त नहीं होती है अपितु केवल स्थानांतरण हो जाता है। ऐतिहासिक परिदृश्य में कहीं भी नाटक व रंगमंच में होने वाले नये प्रेमाख्यानों, पुराणवृत्तों के अतिरिक्त परंपराशील आंचलिक नाट्य समाज की आलोचना करने वाले प्रसंगों का भी उपयोग करते हैं। वस्तुतः भारतीय ग्रामीण की विनोद – प्रवृत्ति, ठोस बुद्धि और तीखी प्रतिक्रियाएँ इन प्रसंगों में निखरती हैं। संभवतः ऐसे आलोचना – मूलक सामाजिक प्रसंगों का समावेश उस परम्परा का द्योतक है जो संस्कृत – नाटकों के युग में भाणों और प्रहसनों में निहित है। इसीलिए भाण और प्रहसन की भंगिमाएँ बाद में चलती रहीं और आज भी वे परिहास जो नगरों में पुराने पड़ गये हैं, आंचलिक नाट्यों में जारी हैं।

संदर्भ (Reference)

1. अजित पुष्कल /हरिश्चन्द्र अग्रवाल, , संस्करण 2004 नाटक के सौ बरस, दिल्ली
2. आद्य रंगाचार्य, First Edition 1971; Second Edition 1980 The Indian Theatre, National Book Trust, India, New Delhi,
3. इरफान हबीब, 1999, रमेश रावत (संपादक और अनुवादक), भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन
4. कपिला वात्स्यायन, पारंपरिक भारतीय रंगमंच : अनंत धाराएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, संस्करण
5. वही, वासुदेव शरण अग्रवाल रचना- संचयन (हिन्दी खण्ड), साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण-2012
6. मलिक मोहम्मद, प्रथम संस्करण, 1971, वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली
7. संपादक -सुधा सिंह, प्रथम संस्करण 2004, मध्यकालीन साहित्य – विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकत्ता - 700007